



International Journal of Advanced Research in Education and Technology (IJARETY)

Volume 13, Issue 5, September - October 2026

Impact Factor: 9.971



भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में किसान आंदोलनों की भूमिका: एक ऐतिहासिक अध्ययन

Dr. Sushil Kumar

Assistant Professor, Department of History, Govt. College Krishan Nagar, Mahendergarh (Haryana), India

सारांश (Abstract): भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों और समुदायों की सहभागिता से निर्मित हुआ। इस व्यापक संघर्ष में किसान आंदोलनों की भूमिका विशेष महत्व रखती है, क्योंकि औपनिवेशिक भारत की विशाल आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती थी और कृषि उनकी आजीविका का प्रमुख आधार थी। ब्रिटिश शासन की भूमि-राजस्व नीतियों, जमींदारी एवं मध्यस्थ व्यवस्थाओं, साहूकारी ऋण, बेदखली, जबरन अथवा लाभहीन नकदी फसल उत्पादन, बेगार और विभिन्न प्रकार के स्थानीय करों ने ग्रामीण समाज में आर्थिक दबाव बढ़ाया। इस दबाव से उत्पन्न असंतोष अलग-अलग क्षेत्रों में विविध रूपों में व्यक्त हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी का नील विद्रोह, पाबना कृषक आंदोलन और दक्कन विद्रोह प्रारंभिक प्रतिरोध की महत्वपूर्ण कड़ियाँ थे। बीसवीं शताब्दी में चंपारण, खेड़ा, अवध और बारडोली जैसे आंदोलनों ने किसान प्रश्न को राष्ट्रीय राजनीति के निकट ला दिया। राजस्थान में बिजोलिया और बेगूँ जैसे आंदोलनों ने रियासती-सामंती संरचनाओं के विरुद्ध दीर्घकालीन जनचेतना विकसित की। 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा के गठन ने कृषक राजनीति को अखिल भारतीय संगठनात्मक आधार दिया। 1940 के दशक के तेभागा और तेलंगाना आंदोलनों ने भूमि, बंटाई और ग्रामीण सत्ता-संबंधों को अधिक प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रश्न बनाया। इस शोध-पत्र का उद्देश्य अलग से निर्धारित उद्देश्यों की सूची प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम और उनके पारस्परिक संबंधों के माध्यम से यह विश्लेषित करना है कि किसान संघर्षों ने राष्ट्रीय आंदोलन को किस प्रकार सामाजिक आधार, राजनीतिक ऊर्जा और ग्रामीण जनभागीदारी प्रदान की। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि किसान आंदोलनों की प्रेरणा अक्सर स्थानीय आर्थिक शिकायतों से हुई, परंतु संगठन, राष्ट्रीय राजनीति और स्वराज की अवधारणा के संपर्क में आने के बाद इन संघर्षों का अर्थ व्यापक हुआ। इन आंदोलनों ने किसानों में अधिकार-बोध, संगठनात्मक क्षमता और राजनीतिक चेतना विकसित की तथा स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार और कृषक अधिकारों के विमर्श के लिए आधार तैयार किया।

प्रमुख शब्द (Keywords): भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन, किसान आंदोलन, कृषक समाज, औपनिवेशिक शासन, भूमि राजस्व, किसान संघर्ष, राष्ट्रीय आंदोलन, ग्रामीण समाज, कृषक चेतना, जमींदारी व्यवस्था, सत्याग्रह, किसान संगठन।

I. प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को केवल राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण की प्रक्रिया के रूप में देखना उसके सामाजिक विस्तार को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। औपनिवेशिक शासन की वास्तविक शक्ति का एक बड़ा हिस्सा ग्रामीण अर्थव्यवस्था और भूमि से प्राप्त राजस्व पर आधारित था। भारत की अधिकांश जनता कृषि से जुड़ी थी, इसलिए भूमि, लगान, उत्पादन और ऋण से संबंधित औपनिवेशिक नीतियों का प्रभाव सीधे करोड़ों लोगों के जीवन पर पड़ता था। ग्रामीण समाज में आर्थिक कठिनाइयाँ जब सामूहिक अनुभव में बदलती हैं, तो वे केवल निजी समस्या नहीं रहती; वे सार्वजनिक शिकायत, संगठन और राजनीतिक प्रतिरोध का रूप ले सकती हैं। किसान आंदोलनों का इतिहास इसी परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने का महत्वपूर्ण माध्यम है।

किसान आंदोलनों की प्रकृति पूरे भारत में एक जैसी नहीं थी। बंगाल में नील की खेती और जमींदारी किराया मुख्य प्रश्न बने; महाराष्ट्र में साहूकारी ऋण और भूमि संबंधों ने असंतोष पैदा किया; बिहार के चंपारण में नील की तिनकठिया व्यवस्था केंद्र में रही; गुजरात के खेड़ा में खराब फसल के बीच राजस्व वसूली का प्रश्न उठा; बारडोली में बढ़ा हुआ भू-राजस्व आंदोलन का कारण बना। अवध में तालुकेदारों की मांगें, बेदखली और बेगार ने किसानों को संगठित किया। राजस्थान की रियासतों में जागीरदारी, लाग-बाग और बेगार ने किसान संघर्षों को अलग ऐतिहासिक रूप दिया। इन विविधताओं के बावजूद एक सामान्य तत्व दिखाई देता है—कृषक अपने जीवन पर प्रभाव डालने वाली शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध सामूहिक शक्ति विकसित कर रहे थे।

बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय आंदोलन के विस्तार ने इन स्थानीय संघर्षों को नई राजनीतिक भाषा दी। गांधी के सत्याग्रह ने आर्थिक शिकायतों को नैतिक और राजनीतिक प्रतिरोध में बदलने का तरीका दिखाया। लेकिन किसान आंदोलन केवल गांधीवादी धारा तक सीमित नहीं रहे। स्वामी सहजानंद सरस्वती और अखिल भारतीय किसान सभा ने भूमि, ऋण और जमींदारी उन्मूलन जैसे अधिक संरचनात्मक प्रश्न उठाए। 1940 के दशक में तेभागा और तेलंगाना आंदोलनों ने ग्रामीण वर्ग-संबंधों और भूमि-अधिकार के प्रश्न को

अधिक तीक्ष्ण बनाया। इसलिए किसान आंदोलनों को स्वतंत्रता आंदोलन के भीतर अनेक विचारधाराओं, नेतृत्व-शैलियों और सामाजिक समूहों के अंतर्संबंध के रूप में देखना आवश्यक है।

इस अध्ययन का केंद्रीय ऐतिहासिक दृष्टिकोण यह है कि किसान आंदोलनों और राष्ट्रीय आंदोलन के बीच संबंध एकतरफा नहीं था। राष्ट्रीय नेतृत्व ने ग्रामीण समाज को स्वतंत्रता संघर्ष से जोड़ा, परंतु किसानों ने भी राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक जनाधार और वास्तविक ग्रामीण शक्ति प्रदान की। किसान अपनी स्थानीय समस्याओं को 'स्वराज' और 'अधिकार' की भाषा में समझने लगे। इस प्रक्रिया ने राष्ट्रीय आंदोलन को सामाजिक गहराई दी और स्वतंत्रता की अवधारणा को खेत, गाँव, लगान और भूमि-अधिकार के प्रश्नों से जोड़ा।

II. औपनिवेशिक भारत में किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति

औपनिवेशिक कृषि व्यवस्था में बाजार की भूमिका भी धीरे-धीरे बढ़ी। रेल, बंदरगाह और व्यापारिक नेटवर्क के विस्तार से कुछ कृषि उत्पादों को दूरस्थ बाजारों तक भेजना आसान हुआ। इससे किसानों को बाजार से जुड़ने के अवसर मिले, परंतु कीमतों में उतार-चढ़ाव का जोखिम भी बढ़ा। जिन किसानों के पास पर्याप्त पूँजी और भंडारण की सुविधा नहीं थी, वे फसल कटते ही कम कीमत पर उपज बेचने के लिए मजबूर हो सकते थे। ऋण चुकाने की आवश्यकता और तत्काल नकदी की जरूरत ने उनकी सौदेबाजी की क्षमता कम कर दी। इस प्रकार औपनिवेशिक बाजार व्यवस्था ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था को व्यापार से जोड़ा, लेकिन उसके लाभ समान रूप से वितरित नहीं हुए।

भूमि के स्वामित्व और कब्जे की असुरक्षा ने ग्रामीण परिवारों की सामाजिक स्थिति को भी प्रभावित किया। भूमि खोने का अर्थ केवल आय का साधन खोना नहीं था; इससे परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा, विवाह संबंध, स्थानीय प्रभाव और भविष्य की सुरक्षा भी प्रभावित होती थी। इसलिए किरायेदार किसान भूमि से जुड़े किसी विवाद को अस्तित्वगत संकट के रूप में देख सकता था। यही कारण है कि किसान आंदोलनों में लगान और बेदखली के प्रश्न भावनात्मक और सामूहिक रूप से अत्यंत प्रभावशाली बने।

औपनिवेशिक कृषि व्यवस्था को समझे बिना किसान आंदोलनों की पृष्ठभूमि स्पष्ट नहीं हो सकती। ब्रिटिश शासन ने विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग भूमि-राजस्व व्यवस्थाएँ लागू कीं। बंगाल में 1793 के स्थायी बंदोबस्त ने जमींदारों को राजस्व-संग्रह की महत्वपूर्ण भूमिका दी। मद्रास और बंबई के बड़े हिस्सों में रैयतवाड़ी व्यवस्था विकसित हुई, जिसमें राज्य का संबंध कृषक से अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष था। उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों और पंजाब के कुछ हिस्सों में महालवाड़ी व्यवस्था के माध्यम से गाँव या महाल को राजस्व इकाई बनाया गया। इन व्यवस्थाओं की संस्थागत प्रकृति अलग थी, लेकिन इनके कारण भूमि-अधिकार और राजस्व दायित्वों की नई संरचनाएँ बनीं।

स्थायी बंदोबस्त ने जमींदारों को एक शक्तिशाली मध्यस्थ वर्ग के रूप में स्थापित किया। किरायेदार किसानों को अनेक स्थानीय परिस्थितियों में असुरक्षित अधिकारों का सामना करना पड़ता था। रैयतवाड़ी क्षेत्र में भी राजस्व निर्धारण और वसूली का दबाव किसानों के लिए कठिन था, विशेषकर जब उपज खराब हो। महालवाड़ी क्षेत्रों में सामूहिक दायित्व की व्यवस्था के कारण गाँव की सामाजिक संरचना पर राजस्व भार का प्रभाव पड़ता था। इन व्यवस्थाओं को केवल प्रशासनिक परिवर्तन मानना उचित नहीं होगा; उन्होंने ग्रामीण शक्ति-संबंधों को भी बदल दिया।

राजस्व की मांग और कृषि की अनिश्चितता के बीच तनाव किसान जीवन की प्रमुख समस्या बना। किसान की आय वर्षा, सिंचाई, बीज, श्रम, फसल और बाजार मूल्य पर निर्भर थी, जबकि राजस्व दायित्व अपेक्षाकृत निश्चित प्रशासनिक प्रक्रिया से जुड़ा था। फसल खराब होने पर किसान को खाद्य जरूरतें पूरी करने के लिए भी धन चाहिए और राजस्व भुगतान के लिए भी। ऐसी स्थिति में साहूकार से ऋण लेना कई किसानों के लिए अनिवार्य बन गया। ब्याज, बहीखातों और बकाया भुगतान की प्रक्रिया ने ऋण को लंबे समय तक चलने वाले आर्थिक बोझ में बदल दिया।

कपास, नील, अफीम और अन्य नकदी फसलों के विस्तार ने कृषि को बाजार से अधिक गहराई से जोड़ा। बाजार से जुड़ाव अपने आप में हमेशा शोषणकारी नहीं था, लेकिन जब किसान को अपनी खाद्य जरूरतों की कीमत पर किसी विशेष फसल की खेती करनी पड़े या कीमतों के उतार-चढ़ाव का जोखिम अकेले उठाना पड़े, तब समस्या गंभीर हो जाती थी। नील की खेती में यूरोपीय प्लांटर्स की शक्ति के कारण किसान उत्पादन के निर्णय पर नियंत्रण खोते थे। इसी प्रकार कपास की कीमतों में युद्धकालीन उछाल और बाद की गिरावट ने महाराष्ट्र के किसानों को ऋण और बाजार जोखिम के प्रति असुरक्षित बनाया।

ग्रामीण समाज में आर्थिक संबंध जाति, वर्ग और स्थानीय सत्ता से भी प्रभावित थे। भूमिधर किसान, किरायेदार, बंटाईदार, कृषि मजदूर और साहूकार अलग-अलग आर्थिक स्थितियों में थे। किसी आंदोलन में छोटे किसानों और मध्यम किसानों की मांग समान हो सकती थी, लेकिन भूमिहीन मजदूरों की समस्या अलग रह सकती थी। इसलिए 'किसान' शब्द को एक समान सामाजिक वर्ग मानना इतिहास

की जटिलता को कम कर देता है। फिर भी राजस्व, बेगार, ऋण और बेदखली जैसे प्रश्नों ने अलग-अलग ग्रामीण समूहों के बीच अस्थायी या दीर्घकालीन गठबंधन बनाने की संभावना पैदा की।

अकाल, सूखा और फसल विफलता ने संकट को और तीव्र किया। जब खाद्य उपलब्धता घटती और बाजार कीमतें बढ़तीं, तब गरीब किसान अपनी भूमि, पशु या आभूषण बेचने के लिए मजबूर हो सकता था। ऋण का भार बढ़ने से भूमि खोने की आशंका पैदा होती थी। ऐसी परिस्थिति में प्रशासन यदि राजस्व वसूली में पर्याप्त राहत न देता, तो राज्य के प्रति असंतोष बढ़ता। यही कारण है कि कई किसान आंदोलनों में आर्थिक शिकायत और राजनीतिक असंतोष एक-दूसरे से जुड़े दिखाई देते हैं।

औपनिवेशिक शासन की ग्रामीण संरचना में पुलिस, न्यायालय और राजस्व अधिकारियों की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। किसान के लिए न्याय प्राप्त करना हमेशा सरल नहीं था। भाषा, कानून, दस्तावेज और आर्थिक संसाधनों की कमी से गरीब कृषक कमजोर स्थिति में रहता था। पाबना में किसानों ने सामूहिक रूप से मुकदमों के लिए धन जुटाकर इस समस्या का उत्तर दिया। यह सामूहिक कानूनी प्रतिरोध बाद के संगठित किसान आंदोलनों की एक महत्वपूर्ण पूर्वपीठिका था।

III. प्रारंभिक किसान प्रतिरोध से संगठित किसान आंदोलनों तक

उन्नीसवीं शताब्दी के कृषक प्रतिरोधों ने यह दिखाया कि ग्रामीण समाज औपनिवेशिक आर्थिक व्यवस्था को निष्क्रिय रूप से स्वीकार नहीं कर रहा था। प्रारंभिक संघर्ष स्थानीय और विशिष्ट समस्याओं पर आधारित थे। उनमें आधुनिक राष्ट्रवादी विचारधारा हमेशा उपस्थित नहीं थी, परंतु उनके भीतर अन्याय के विरुद्ध सामूहिक चेतना और स्थानीय अधिकारों की रक्षा की भावना स्पष्ट थी। यही कारण है कि बाद के इतिहासकार इन्हें औपनिवेशिक ग्रामीण व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिरोध की लंबी परंपरा के हिस्से के रूप में देखते हैं।

1859-60 का नील विद्रोह बंगाल में यूरोपीय नील उत्पादकों की जबरन या दबावपूर्ण खेती व्यवस्था के विरुद्ध व्यापक कृषक प्रतिक्रिया थी। किसानों ने नील बोने से इनकार किया और सामूहिक संगठन बनाए। आंदोलन को बंगाली प्रेस तथा बुद्धिजीवी वर्ग से समर्थन मिला। दीनबन्धु मित्र का नाटक 'नील दर्पण' किसानों की पीड़ा के सार्वजनिक चित्रण के लिए प्रसिद्ध हुआ। 1860 में सरकार ने नील संबंधी जाँच की और प्रशासनिक हस्तक्षेप के बाद नील की खेती के लिए किसानों को बलपूर्वक बाध्य करने की स्थिति में परिवर्तन आया। इस आंदोलन की उपलब्धि यह थी कि ग्रामीण शिकायत पहली बार बड़े पैमाने पर सार्वजनिक नैतिक प्रश्न बन गई।

1873 के आसपास पाबना में कृषकों ने जमींदारों द्वारा किराये की वृद्धि और अधिकारों के हनन के विरुद्ध कृषि संघों का निर्माण किया। उन्होंने कानूनी कार्रवाई के लिए धन जुटाया और बढ़े हुए किराये के भुगतान का सामूहिक विरोध किया। यह आंदोलन अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण संगठन, सामूहिक संसाधन और न्यायिक प्रक्रिया के उपयोग के लिए उल्लेखनीय था। बाद में बंगाल टेनेसी एक्ट, 1885 ने किरायेदारों के कुछ अधिकारों को कानूनी संरक्षण देने का प्रयास किया। हालांकि यह कानून ग्रामीण शोषण की सभी समस्याओं का समाधान नहीं था, फिर भी पाबना संघर्ष ने किसान संगठन की शक्ति का परिचय दिया।

1875 के दक्कन विद्रोह में पुणे और अहमदनगर के किसानों का साहूकारों के विरुद्ध आक्रोश सामने आया। अमेरिकी गृहयुद्ध के दौरान कपास की कीमतें बढ़ने से किसानों को अस्थायी समृद्धि मिली थी, लेकिन युद्ध के बाद कीमतों में गिरावट और ऋण भार ने स्थिति बदल दी। खराब फसल और राजस्व दायित्व ने संकट बढ़ाया। किसानों ने साहूकारों का सामाजिक बहिष्कार किया और कई स्थानों पर ऋण दस्तावेजों को नष्ट किया। इस प्रतिरोध के बाद दक्कन कृषक राहत अधिनियम, 1879 लाया गया, जिसने ऋण संबंधों में कुछ कानूनी संरक्षण देने का प्रयास किया।

इन प्रारंभिक आंदोलनों का एक साझा महत्व था—किसानों ने सामूहिक रूप से यह समझना शुरू किया कि व्यक्तिगत आर्थिक कठिनाई को सार्वजनिक और राजनीतिक शिकायत में बदला जा सकता है। यद्यपि इन आंदोलनों की भौगोलिक सीमा सीमित थी, उन्होंने संगठन, सामूहिक कार्रवाई, प्रेस, न्यायालय और सामाजिक बहिष्कार जैसी रणनीतियों का अनुभव दिया। आगे चलकर राष्ट्रीय नेताओं ने इन्हीं ग्रामीण क्षमताओं को व्यापक स्वतंत्रता संघर्ष से जोड़ने का प्रयास किया।

IV. गांधी युग के प्रमुख किसान आंदोलन

गांधी युग के किसान आंदोलनों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि स्थानीय शिकायतों को नैतिक वैधता और सार्वजनिक पारदर्शिता के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। सत्याग्रह में प्रतिरोध करने वाले किसान से अनुशासन और संयम की अपेक्षा की जाती थी। इससे आंदोलन को व्यापक समाज का समर्थन मिलने की संभावना बढ़ी। चंपारण में किसानों की गवाही और खेड़ा में सामूहिक राजस्व-

प्रतिरोध ने यह दिखाया कि ग्रामीण समस्या को व्यवस्थित तथ्य और सार्वजनिक नैतिकता के साथ प्रस्तुत करने से प्रशासन पर राजनीतिक दबाव बनाया जा सकता है।

इन आंदोलनों ने राष्ट्रीय नेताओं को भी ग्रामीण भारत की वास्तविकताओं से परिचित कराया। किसान की गरीबी, ऋण, बेगार और असुरक्षित भूमि-अधिकार के प्रत्यक्ष अनुभव ने राष्ट्रीय राजनीति में सामाजिक प्रश्नों की समझ को व्यापक किया। इस प्रक्रिया में स्थानीय किसान नेता और राष्ट्रीय नेता एक-दूसरे से सीखते रहे। राष्ट्रीय नेतृत्व की भाषा ग्रामीण समाज में पहुँची, जबकि ग्रामीण संघर्षों ने राष्ट्रीय नेतृत्व को आर्थिक न्याय के प्रश्नों पर अधिक स्पष्ट रुख अपनाने के लिए प्रेरित किया।

4.1 चंपारण किसान आंदोलन, 1917

चंपारण उत्तर बिहार का वह क्षेत्र था जहाँ यूरोपीय नील उत्पादकों की आर्थिक शक्ति ने किसानों की खेती संबंधी स्वतंत्रता को सीमित कर दिया था। तिनकठिया व्यवस्था के अंतर्गत किसानों को अपनी भूमि के एक निश्चित हिस्से पर नील उगाने के लिए बाध्य किया जाता था। नील की खेती से किसान की खाद्य फसल और आय दोनों प्रभावित हो सकती थीं। राजकुमार शुक्ल लगातार गांधी से आग्रह करते रहे कि वे चंपारण की स्थिति को प्रत्यक्ष देखें। गांधी 1917 में चंपारण पहुँचे और किसानों की शिकायतें दर्ज करने लगे।

गांधी की पद्धति का महत्वपूर्ण पक्ष था तथ्य-संग्रह। उन्होंने गाँवों में जाकर किसानों के बयान सुने और स्थानीय कार्यकर्ताओं को साथ लेकर शिकायतों का दस्तावेजीकरण किया। प्रशासन ने गांधी की गतिविधियों पर निगरानी रखी और उन्हें क्षेत्र छोड़ने का आदेश दिया, लेकिन गांधी ने आदेश का पालन करने के बजाय कानूनी प्रक्रिया का सामना किया। इससे किसान प्रश्न को सार्वजनिक महत्व मिला। बाद में सरकार ने जाँच की प्रक्रिया शुरू की और गांधी उसमें शामिल हुए।

चंपारण का महत्व इस बात में था कि स्थानीय कृषि समस्या को सत्याग्रह की व्यापक नैतिक राजनीति से जोड़ा गया। गांधी ने किसान को हिंसक संघर्ष के बजाय सत्य, अनुशासन और सामूहिक गवाही के माध्यम से अपनी बात रखने की दिशा दी। परिणामस्वरूप नील किसानों की शिकायतों को प्रशासनिक स्तर पर गंभीरता मिली और तिनकठिया व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई। चंपारण ने गांधी की भारतीय राजनीतिक भूमिका को भी ग्रामीण समाज के साथ गहरे स्तर पर जोड़ा।

4.2 खेड़ा किसान आंदोलन, 1918

खेड़ा में 1918 का संघर्ष खराब फसल और राजस्व भुगतान के प्रश्न से संबंधित था। किसानों का कहना था कि कृषि उपज की स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे सामान्य राजस्व दायित्व पूरा कर सकें। गांधी ने स्थानीय नेतृत्व और कार्यकर्ताओं के साथ किसानों को संगठित किया। सरदार वल्लभभाई पटेल इस आंदोलन में महत्वपूर्ण संगठनकर्ता के रूप में उभरे। खेड़ा आंदोलन में किसान अनुशासन और सामूहिकता पर जोर दिया गया। जिन किसानों की स्थिति वास्तव में खराब थी, उन्हें राहत की मांग के लिए एकजुट किया गया। राजस्व न देने की नीति केवल आर्थिक असहमति नहीं थी; यह प्रशासनिक दबाव के सामने सामूहिक नैतिक प्रतिरोध का साधन बनी। आंदोलन ने ग्रामीण समाज में राजनीतिक नेतृत्व और संगठन की क्षमता विकसित की। बाद में सरदार पटेल के सार्वजनिक नेतृत्व के विकास में भी खेड़ा का अनुभव महत्वपूर्ण रहा।

4.3 अवध किसान आंदोलन

अवध में किसानों की समस्याएँ तालुकेदारी व्यवस्था, ऊँचे किराये, बेदखली, बेगार और विभिन्न अतिरिक्त मांगों से जुड़ी थीं। 1918 से किसान सभाएँ बनने लगीं और बाबा रामचंद्र ने ग्रामीण संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1920 में अवध किसान सभा के गठन ने कई स्थानीय संगठनों को जोड़ने का प्रयास किया। किसानों ने बेदखली की भूमि को न जोतने, बेगार न देने, अनुचित मांगों का बहिष्कार करने और पंचायतों के माध्यम से विवाद सुलझाने जैसी रणनीतियाँ अपनाईं।

अवध आंदोलन का एक चरण असहयोग आंदोलन से जुड़ा। जवाहरलाल नेहरू ने ग्रामीण किसानों की स्थिति को प्रत्यक्ष देखा और किसान प्रश्न के प्रति उनकी राजनीतिक संवेदना मजबूत हुई। 1921 में कुछ क्षेत्रों में आंदोलन उग्र हुआ और जमींदारों तथा पुलिस से टकराव हुआ। सरकार ने दमन किया तथा किराया कानून में परिवर्तन की प्रक्रिया आगे बढ़ी। इस आंदोलन ने उत्तर भारत में यह स्पष्ट किया कि राष्ट्रीय राजनीति और कृषक शिकायतें एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकतीं।

4.4 बारडोली सत्याग्रह, 1928

बारडोली में भू-राजस्व वृद्धि के विरोध ने 1928 में एक संगठित किसान सत्याग्रह को जन्म दिया। किसानों ने बढ़े हुए राजस्व का भुगतान करने से सामूहिक रूप से इनकार किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने आंदोलन का नेतृत्व किया और गाँव-स्तर पर अनुशासन, सूचना-व्यवस्था तथा स्वयंसेवक संगठन को मजबूत किया। महिलाओं ने भी आंदोलन को सामाजिक आधार देने में सक्रिय भूमिका निभाई।

बारडोली की शक्ति उसकी संगठनात्मक एकता में थी। प्रशासन द्वारा भूमि या संपत्ति जब्त करने के प्रयासों के सामने किसानों ने सामूहिक निर्णय बनाए रखा। आंदोलन के बाहर के लोगों को भी उसकी मांगों की जानकारी दी गई। अंततः सरकार ने जाँच और समझौते की दिशा में कदम बढ़ाए। बारडोली ने किसान सत्याग्रह को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा दी और वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व को अत्यधिक मजबूत किया। इसी संघर्ष के दौरान उन्हें 'सरदार' के रूप में लोकप्रिय संबोधन मिला।

V. राजस्थान एवं अन्य क्षेत्रों के किसान आंदोलन

राजस्थान के किसान आंदोलनों का एक अतिरिक्त महत्व यह था कि उन्होंने रियासतों की जनता और औपनिवेशिक भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के बीच राजनीतिक संबंधों को मजबूत किया। ब्रिटिश भारत में प्रत्यक्ष औपनिवेशिक प्रशासन के विरुद्ध संघर्ष चल रहा था, जबकि रियासतों में स्थानीय शासकों और जागीरदारों की सत्ता थी। फिर भी ब्रिटिश राजनीतिक प्रभाव से रियासतें पूरी तरह अलग नहीं थीं। किसान आंदोलनों ने इस दोहरी सत्ता संरचना की आलोचना की और जनता के अधिकारों की मांग को प्रजामंडल राजनीति से जोड़ा।

राजस्थान में समाचार-पत्रों और सार्वजनिक संगठनों की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही। किसान संघर्षों की खबरें जब क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर पहुँचीं तो आंदोलन को नैतिक और राजनीतिक समर्थन मिला। विजय सिंह पथिक और रामनारायण चौधरी जैसे कार्यकर्ताओं ने लेखन और संगठन दोनों के माध्यम से किसान प्रश्न को सार्वजनिक विषय बनाया। इस प्रकार राजस्थान का किसान आंदोलन केवल करों की शिकायत नहीं रहा, बल्कि जनजागरण, शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों के व्यापक अभियान का हिस्सा बना।

राजस्थान के किसान आंदोलनों की पृष्ठभूमि ब्रिटिश भारत से भिन्न राजनीतिक संरचना में विकसित हुई। अनेक रियासतों में शासक, जागीरदार और स्थानीय अधिकारी राजस्व तथा अन्य सेवाओं की व्यवस्था नियंत्रित करते थे। किसानों पर भूमि से संबंधित भुगतान के साथ अनेक लाग-बाग और अनिवार्य श्रम का बोझ पड़ता था। इस व्यवस्था में किसान का प्रश्न केवल आर्थिक नहीं था; वह सम्मान, श्रम की स्वतंत्रता और प्रशासनिक न्याय से भी जुड़ा था। बिजोलिया आंदोलन इस ऐतिहासिक परिस्थिति का सबसे प्रमुख उदाहरण है।

बिजोलिया में किसानों पर अनेक प्रकार के कर और बेगार का बोझ था। प्रारंभिक नेतृत्व साधु सीताराम दास से जुड़ा रहा। बाद में विजय सिंह पथिक ने आंदोलन को अधिक संगठित राजनीतिक रूप दिया। माणिक्यलाल वर्मा ने भी किसानों को जागरूक करने और सत्याग्रह की भावना विकसित करने में योगदान दिया। आंदोलन के विभिन्न चरणों में महिलाओं की भागीदारी दिखाई देती है। 1941 में मांगों की स्वीकृति के साथ आंदोलन का लंबा चरण समाप्त हुआ।

बिजोलिया की विशेषता उसकी दीर्घ अवधि और बदलती नेतृत्व संरचना थी। किसानों की मांगें समय के साथ केवल करों को कम करने तक सीमित नहीं रहीं। वे बेगार, प्रशासनिक व्यवहार, सामाजिक सम्मान और अधिकारों से संबंधित व्यापक प्रश्न बन गईं। राजस्थान सेवा संघ और समाचार-पत्रों ने आंदोलन की खबरों और विचारों को व्यापक क्षेत्र तक पहुँचाया। रामनारायण चौधरी तथा अन्य कार्यकर्ताओं ने रियासतों के किसान प्रश्न को सार्वजनिक और राष्ट्रीय विमर्श में स्थान देने का प्रयास किया।

बेगूँ और शेखावाटी के किसान आंदोलनों ने भी राजस्थान में कृषक चेतना का विस्तार किया। बेगूँ में किसानों ने करों और प्रशासनिक दबाव के विरुद्ध संगठन बनाया। राजस्थान सेवा संघ से जुड़े कार्यकर्ताओं ने इस संघर्ष में सहयोग किया। शेखावाटी क्षेत्र में जमींदारों और किसानों के बीच संबंधों में सुधार तथा अनुचित वसूली के विरुद्ध असंतोष विकसित हुआ। इन आंदोलनों का स्वरूप स्थानीय था, लेकिन इनसे राजस्थान की रियासतों में राजनीतिक अधिकार और जनप्रतिनिधित्व के प्रश्न को बल मिला।

राजस्थान के आदिवासी क्षेत्रों में किसान और जनजातीय प्रश्न अनेक बार परस्पर जुड़े रहे। मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में 1920 के दशक का एकी आंदोलन मेवाड़ और आसपास के भील क्षेत्रों में बेगार, कर और राज्याय दमन के विरुद्ध विकसित हुआ। 'मेवाड़ पुकार' में बेगार समाप्त करने, पुलिस की ज्यादतियाँ रोकने, अनाज और वन-उत्पादों से संबंधित प्रतिबंधों में राहत तथा कृषकों की सुरक्षा जैसी मांगें दर्ज थीं। इससे स्पष्ट है कि ग्रामीण प्रतिरोध भूमि के साथ वन और श्रम अधिकारों तक विस्तृत था।

भारत के अन्य हिस्सों में एका आंदोलन, मोपला विद्रोह, तेभागा और तेलंगाना ने किसान राजनीति की विविध दिशा दिखाई। तेभागा आंदोलन में बंगाल के बंटाईदारों ने उपज में अपने हिस्से को बढ़ाने की मांग की। परंपरागत रूप से बंटाईदार को उपज का लगभग आधा हिस्सा देना पड़ता था; आंदोलन ने दो-तिहाई हिस्से की मांग को प्रमुख बनाया। तेलंगाना में निजाम के हैदराबाद राज्य के अंतर्गत जमींदारी और ग्रामीण सत्ता के विरुद्ध 1946 से संघर्ष विकसित हुआ। 8. किसान आंदोलनों में नेतृत्व, संगठन एवं जनभागीदारी

किसान संगठनों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि उन्होंने ग्रामीण समाज में संचार की नई व्यवस्था बनाई। गाँव-गाँव बैठकें, संदेशवाहक, स्थानीय सभाएँ, पत्र-पत्रिकाएँ और पंचायतें आंदोलन की सूचना को तेजी से फैलाती थीं। इससे प्रशासन के लिए अलग-अलग गाँवों को अलग करके दबाव डालना कठिन हो सकता था। संगठन ने किसानों को यह विश्वास दिया कि किसी एक परिवार पर कार्रवाई होने पर अन्य ग्रामीण उसकी सहायता कर सकते हैं। सामूहिक सुरक्षा की भावना ने आंदोलन की स्थिरता को बढ़ाया।

किसान नेतृत्व में पीढ़ियों और सामाजिक पृष्ठभूमियों का अंतर भी दिखाई देता है। कुछ नेता स्थानीय धार्मिक या सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर उभरे, कुछ शिक्षित मध्यवर्ग से आए और कुछ स्वयं कृषक समुदाय से थे। यह विविधता आंदोलन की भाषा को प्रभावित करती थी। धार्मिक प्रतीक, पंचायत, राष्ट्रवाद, वर्ग-संघर्ष और सत्याग्रह—सभी अलग-अलग क्षेत्रों में संगठनात्मक साधन बने। इस बहुलता के कारण किसान आंदोलन भारतीय राजनीति में एक व्यापक और बहुस्तरीय परंपरा के रूप में विकसित हुए।

किसान आंदोलनों की वास्तविक शक्ति ग्राम-स्तरीय संगठन में निहित थी। बड़े नेताओं के नाम इतिहास में अधिक दिखाई देते हैं, लेकिन आंदोलन की निरंतरता स्थानीय कार्यकर्ताओं, पंचायतों, किसान सभाओं, स्वयंसेवकों और ग्रामीण परिवारों की भागीदारी से संभव हुई। चंपारण में किसानों की गवाही एकत्र करना, खेड़ा में राजस्व भुगतान के संबंध में सामूहिक निर्णय और बारडोली में जब्ती की कार्रवाई के समय संगठन—इन सभी प्रक्रियाओं में स्थानीय कार्यकर्ताओं की भूमिका केंद्रीय थी।

महात्मा गांधी ने किसान संघर्ष को सत्याग्रह की भाषा दी, लेकिन किसान नेतृत्व गांधी तक सीमित नहीं था। बाबा रामचंद्र ने अवध में किसानों को संगठित किया; विजय सिंह पथिक ने बिजोलिया में आंदोलन को व्यापक राजनीतिक रूप दिया; सरदार पटेल ने बारडोली में अनुशासित संगठन खड़ा किया; स्वामी सहजानंद सरस्वती ने किसान राजनीति को भूमि और वर्ग-संबंधों के प्रश्न से जोड़ा। इन नेताओं की पृष्ठभूमि और विचार भिन्न थे, परंतु सभी ने ग्रामीण जनता को राजनीतिक कार्रवाई की क्षमता दी।

1920 के दशक में स्थानीय किसान सभाओं की संख्या बढ़ी। अवध में किसान संगठनों ने कई गाँवों को जोड़ने का प्रयास किया। बिहार में किसान संगठन धीरे-धीरे अधिक मजबूत हुए और 1929 में बिहार प्रांतीय किसान सभा की स्थापना स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में हुई। 1936 में लखनऊ में अखिल भारतीय किसान सभा का गठन हुआ। भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के डिजिटल अभिलेख के अनुसार इसके गठन में स्वामी सहजानंद सरस्वती की प्रमुख भूमिका थी तथा एन. जी. रंगा, इंदुलाल याज्ञिक, आचार्य नरेंद्र देव, ई. एम. एस. नंबूदरीपाद और जयप्रकाश नारायण जैसे नेता इससे जुड़े।

अखिल भारतीय किसान सभा ने किसान मांगों को व्यापक राजनीतिक कार्यक्रम से जोड़ा। 1936 के घोषणापत्र में जमींदारी उन्मूलन, ग्रामीण ऋण से राहत, भूमि-राजस्व कम करने और जोतने वाले को भूमि का अधिकार देने जैसे मुद्दे शामिल थे। इससे किसान आंदोलन का चरित्र केवल किसी एक कर अथवा स्थानीय अधिकारी के विरोध से बदलकर कृषि संबंधों की संरचना पर बहस करने वाला हो गया। किसान सभा का संबंध कांग्रेस के साथ सहयोग और मतभेद दोनों रूपों में रहा। समय के साथ समाजवादी और वामपंथी प्रभाव बढ़ा और किसान राजनीति अधिक वर्ग-आधारित भाषा अपनाने लगी।

महिलाओं की भागीदारी को भी संगठनात्मक इतिहास में शामिल करना आवश्यक है। बारडोली में महिलाओं ने सत्याग्रहियों के मनोबल को बनाए रखा और प्रशासनिक कार्रवाई के सामने सामाजिक प्रतिरोध किया। बिजोलिया में भी महिलाओं ने पुलिस कार्रवाई का विरोध किया। राजस्थान के सरकारी डिजिटल अभिलेखों में राजपुरा क्षेत्र की महिलाओं द्वारा पुलिस घुड़सवारों का सामना करने और बाद के चरणों में महिला कार्यकर्ताओं के योगदान का उल्लेख है। इससे किसान आंदोलन परिवार और समुदाय की सामाजिक संरचना को भी राजनीतिक क्षेत्र में ले आए।

VI. किसान आंदोलनों की रणनीतियाँ एवं प्रतिरोध के स्वरूप

आंदोलनों में प्रतीकात्मक राजनीति भी दिखाई देती थी। सामूहिक शपथ, झंडे, सार्वजनिक सभाएँ, राष्ट्रवादी गीत और नेताओं के भाषण किसानों में साझा पहचान पैदा करते थे। कई स्थानों पर पंचायतों ने सरकारी अदालतों के विकल्प के रूप में विवाद निपटाने की कोशिश की। इससे ग्रामीण समाज में स्वशासन की कल्पना को बल मिला। हालांकि ऐसी वैकल्पिक संस्थाएँ हमेशा स्थायी नहीं रहीं, लेकिन उन्होंने किसानों को यह अनुभव दिया कि वे अपने सामुदायिक निर्णय स्वयं भी ले सकते हैं।

दमन के बावजूद आंदोलन चलाना अपने आप में प्रतिरोध की रणनीति था। गिरफ्तारी, संपत्ति की जब्ती, पुलिस निगरानी और मुकदमों का सामना करने के लिए संगठनात्मक सहायता आवश्यक थी। कई किसान आंदोलनों में परिवारों और स्थानीय समुदायों ने बंदियों के परिवारों की सहायता की। इससे आंदोलन केवल विरोध की घटना न रहकर सामाजिक सहयोग की प्रक्रिया बन गया। इसी सामूहिकता ने किसान राजनीति को लंबे समय तक टिकाए रखने में योगदान दिया।

किसान आंदोलनों की रणनीति उनके स्थानीय लक्ष्य, नेतृत्व और राजनीतिक वातावरण के अनुसार बदलती रही। सबसे शांतिपूर्ण रूप में सामूहिक याचिका, शिकायत-पत्र, अदालत में मुकदमा और सरकारी अधिकारियों से वार्ता दिखाई देती है। पाबना के कृषकों ने कानूनी लड़ाई के लिए सामूहिक धन एकत्र किया। यह तरीका इस बात का उदाहरण है कि ग्रामीण समाज ने आधुनिक कानूनी संस्थाओं को केवल राज्य के औजार के रूप में स्वीकार नहीं किया, बल्कि अपने अधिकारों के लिए भी इस्तेमाल किया।

सत्याग्रह-आधारित आंदोलनों में असहयोग, कर या लगान न देना और प्रशासनिक दबाव के सामने अहिंसक अनुशासन प्रमुख रहा। खेड़ा और बारडोली में किसानों ने सामूहिक रूप से राजस्व संबंधी मांगों का विरोध किया। बारडोली में जब्ती की संभावना के बावजूद आंदोलनकारियों ने संगठन बनाए रखा। चंपारण में तथ्य-संग्रह, सार्वजनिक गवाही और जाँच समिति की प्रक्रिया ने प्रतिरोध को प्रमाण आधारित स्वरूप दिया। इन तरीकों ने राष्ट्रीय आंदोलन को ग्रामीण आर्थिक शिकायतों से जोड़ने में सहायता की।

सामाजिक बहिष्कार भी प्रभावी साधन था। दक्कन के किसानों ने साहूकारों के विरुद्ध बहिष्कार किया। अवध में किसानों ने बेगार और बेदखली में सहयोग करने वालों का सामाजिक विरोध किया। बहिष्कार की शक्ति इस तथ्य से आती थी कि ग्रामीण समाज परस्पर निर्भर था। यदि बड़ी संख्या में लोग किसी साहूकार या जमींदार के साथ सामाजिक-आर्थिक संबंध सीमित कर दें, तो स्थानीय शक्ति-संतुलन प्रभावित हो सकता था।

कुछ आंदोलनों में प्रतिरोध का रूप अधिक उग्र हुआ। अवध के कुछ क्षेत्रों में 1921 के दौरान जमींदारों की संपत्ति पर हमले और पुलिस से संघर्ष हुए। मोपला विद्रोह ने भी हिंसक रूप लिया। 1940 के दशक में तेभागा और तेलंगाना ने भूमि संबंधों को अधिक सीधे चुनौती दी। तेलंगाना संघर्ष में सशस्त्र प्रतिरोध का तत्व मजबूत था। इसलिए भारतीय किसान आंदोलनों की रणनीति को केवल गांधीवादी अहिंसा तक सीमित करना सही नहीं होगा। भारतीय ग्रामीण प्रतिरोध में शांतिपूर्ण, कानूनी, सामाजिक, आर्थिक और उग्र सभी प्रकार के रूप मौजूद थे।

रणनीति का चयन केवल विचारधारा से तय नहीं होता था। प्रशासन की प्रतिक्रिया, स्थानीय जमींदारों का व्यवहार, किसानों की आर्थिक क्षमता और आंदोलन की मांग का स्वरूप भी महत्वपूर्ण थे। जब मांग किसी विशिष्ट कर में राहत तक सीमित थी, तो वार्ता संभव थी; जब भूमि-अधिकार और ग्रामीण सत्ता का प्रश्न सामने आया, तो संघर्ष अधिक तीखा हो सकता था। यही विविधता किसान आंदोलनों के ऐतिहासिक अध्ययन को जटिल और महत्वपूर्ण बनाती है।

VII. किसान आंदोलनों और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का संबंध

किसान आंदोलनों ने राष्ट्रीय आंदोलन की अवधारणा को ग्रामीण भाषा में अनुवादित किया। 'स्वराज' जैसी अवधारणा का अर्थ किसान के लिए उसकी स्थानीय परिस्थितियों से जुड़ा था। यदि किसी गाँव में बेगार सबसे बड़ी समस्या थी, तो स्वराज का अर्थ बेगार से मुक्ति हो सकता था; यदि लगान मुख्य समस्या थी, तो न्यायपूर्ण राजस्व व्यवस्था उसकी प्राथमिकता बनती थी। इस स्थानीय अर्थ-निर्माण ने राष्ट्रीय आंदोलन को जनता के दैनिक जीवन से जोड़ा और राजनीतिक विचारों को अधिक व्यावहारिक बनाया।

राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों की भागीदारी ने औपनिवेशिक सरकार की सूचना-व्यवस्था और प्रशासनिक क्षमता को भी चुनौती दी। गाँवों में सभाएँ और संगठन बढ़ने से सरकारी अधिकारियों को ग्रामीण जनमत पर अधिक ध्यान देना पड़ा। प्रशासनिक रिपोर्टों में किसान असंतोष, सभाओं और नेताओं की गतिविधियों का उल्लेख बढ़ा। इससे स्पष्ट है कि किसान राजनीति औपनिवेशिक राज्य के लिए केवल कानून-व्यवस्था का प्रश्न नहीं, बल्कि शासन की स्थिरता का प्रश्न बन रही थी।

किसान आंदोलनों और राष्ट्रीय आंदोलन का संबंध परस्पर प्रभाव का था। राष्ट्रवादी नेतृत्व ने किसानों को औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संगठित किया, लेकिन किसानों की भागीदारी ने स्वयं राष्ट्रीय आंदोलन की सामाजिक सीमा को बदल दिया। कांग्रेस के प्रारंभिक चरण में नेतृत्व का आधार मुख्यतः शिक्षित और शहरी समूहों में था। ग्रामीण समाज के बड़े हिस्से को राष्ट्रीय राजनीति से जोड़ने के लिए स्थानीय आर्थिक प्रश्नों को राजनीतिक भाषा में प्रस्तुत करना आवश्यक था। किसान आंदोलनों ने यह काम किया।

चंपारण में नील की समस्या, खेड़ा में राजस्व और अवध में किराया तथा बेगार जैसे मुद्दे राष्ट्रीय नेताओं को गाँवों तक ले गए। इससे राष्ट्रीय आंदोलन की भाषा ग्रामीण अनुभवों से जुड़ी। किसान के लिए स्वराज का अर्थ केवल विदेशी शासन की समाप्ति नहीं था। वह उचित लगान, सुरक्षित खेती, बेगार से मुक्ति, स्थानीय अधिकारों के अन्याय से सुरक्षा और सम्मानपूर्ण जीवन की मांग भी हो सकता था। इस प्रकार राष्ट्रीय विचार स्थानीय सामाजिक अर्थों में रूपांतरित हुए।

कांग्रेस और किसान संगठनों के संबंधों में सहयोग के साथ तनाव भी था। कांग्रेस एक व्यापक राष्ट्रीय गठबंधन बनाना चाहती थी जिसमें विभिन्न वर्गों का समर्थन शामिल हो। इसके विपरीत किसान संगठनों के कुछ नेता जमींदारी, साहूकारी और ग्रामीण वर्ग-संबंधों में अधिक गहरे परिवर्तन की मांग करते थे। अखिल भारतीय किसान सभा के विकास के साथ यह अंतर अधिक स्पष्ट हुआ। फिर भी दोनों धाराओं ने कई अवसरों पर औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध साझा मंच बनाया।

किसान आंदोलनों ने ग्रामीण जनता को राजनीतिक संगठन का अनुभव दिया। किसान सभाएँ, पंचायतें, जुलूस, सभाएँ और स्वयंसेवक दल राष्ट्रीय आंदोलन की स्थानीय इकाइयों के रूप में कार्य कर सकते थे। समाचार-पत्रों और प्रचार साहित्य ने भी राष्ट्रीय संदेश को गाँवों तक पहुँचाया। राजस्थान में बिजोलिया और अन्य आंदोलनों के समाचारों को राष्ट्रीय और क्षेत्रीय पत्रों में स्थान मिला। इससे रियासती क्षेत्रों की समस्याएँ भी व्यापक राजनीतिक विमर्श का हिस्सा बनीं।

किसानों की भागीदारी ने स्वतंत्रता आंदोलन को संख्या के साथ-साथ सामाजिक ऊर्जा भी दी। ब्रिटिश शासन के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक असहयोग गंभीर चुनौती था, क्योंकि प्रशासन की आर्थिक शक्ति भूमि राजस्व और कृषि अर्थव्यवस्था से जुड़ी थी। जब किसान संगठित होकर भुगतान, खेती या स्थानीय प्रशासन के निर्णयों का विरोध करते, तो औपनिवेशिक शासन की सामान्य कार्यप्रणाली प्रभावित होती। यही कारण है कि किसान आंदोलन राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष के सामाजिक आधार को मजबूत करने वाली महत्वपूर्ण शक्ति बने।

VIII. किसान आंदोलनों का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभाव

किसान आंदोलनों ने ग्रामीण सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया। पहले जिन प्रश्नों पर परिवार या गाँव के सीमित स्तर पर चर्चा होती थी, वे आंदोलन के माध्यम से जिला, प्रांतीय और राष्ट्रीय मंच तक पहुँचे। समाचार-पत्रों ने किसान शिकायतों को प्रकाशित किया और नेताओं ने सभाओं में उन्हें उठाया। इससे ग्रामीण समस्याओं के बारे में शहरी समाज में भी जागरूकता बढ़ी। किसान और गैर-किसान समूहों के बीच राजनीतिक संवाद का यह विस्तार राष्ट्रीय आंदोलन की व्यापकता के लिए उपयोगी था।

दीर्घकालीन सामाजिक प्रभाव के रूप में किसान आंदोलनों ने अधिकार की भाषा को मजबूत किया। भूमि पर कब्जा, उचित किराया, श्रम का मूल्य, ऋण से राहत और राज्य की जवाबदेही जैसे प्रश्न अधिकारों की शब्दावली में व्यक्त होने लगे। यह परिवर्तन महत्वपूर्ण था, क्योंकि इससे किसान स्वयं को सहायता पाने वाला निष्क्रिय समूह नहीं बल्कि नीति को प्रभावित करने वाला राजनीतिक समुदाय समझने लगा। स्वतंत्रता के बाद लोकतांत्रिक राजनीति में ग्रामीण मतदाता की भूमिका के विकास से इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का संबंध देखा जा सकता है।

किसान आंदोलनों का सबसे स्थायी प्रभाव राजनीतिक चेतना का विकास था। आंदोलन में भाग लेने वाला किसान पहली बार प्रशासनिक अधिकारी, जमींदार या साहूकार के सामने सामूहिक रूप से अपनी बात रखने का अनुभव प्राप्त करता था। सभा में बोलना, मांग-पत्र बनाना, सामूहिक निर्णय लेना, गिरफ्तारी का सामना करना और आर्थिक नुकसान के बावजूद संगठन बनाए रखना राजनीतिक प्रशिक्षण की प्रक्रिया थी। यह अनुभव स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक राजनीति में भी उपयोगी हुआ।

आर्थिक स्तर पर किसान आंदोलनों ने राजस्व और कृषि संबंधों की समस्याओं को सार्वजनिक नीति का विषय बनाया। नील विद्रोह के बाद जाँच और प्रशासनिक हस्तक्षेप हुआ। पाबना संघर्ष के बाद बंगाल टेनेसी एक्ट, 1885 ने किरायेदार अधिकारों के कुछ पक्षों को कानूनी आधार दिया। दक्कन संघर्ष के बाद कृषक ऋण राहत के लिए कानून बनाया गया। चंपारण और खेड़ा में भी प्रशासन को कृषि समस्या पर हस्तक्षेप करना पड़ा। इन सुधारों को पूर्ण सफलता नहीं कहा जा सकता, लेकिन वे यह दर्शाते हैं कि सामूहिक प्रतिरोध नीति को प्रभावित कर सकता था।

सामाजिक प्रभाव के स्तर पर किसान सभाओं ने कई गाँवों को साझा मांगों पर जोड़ा। आंदोलन के दौरान जातीय और धार्मिक विभाजन कई बार पीछे हटे, हालाँकि वे पूरी तरह समाप्त नहीं हुए। पाबना में हिंदू जमींदारों और बड़ी संख्या में मुस्लिम किसानों की सामाजिक संरचना के बावजूद कृषक एकता का उदाहरण मिलता है। राष्ट्रीय नेतृत्व ने भी किसानों को एक व्यापक समुदाय के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। दूसरी ओर, आंदोलन के भीतर वर्ग और जाति के अंतर बने रहे और कई बार संघर्ष की दिशा इन्हीं विभाजनों से प्रभावित हुई।

राजनीतिक प्रभाव का एक पक्ष औपनिवेशिक राज्य की वैधता को चुनौती देना था। जब हजारों किसान किसी कर को अन्यायपूर्ण घोषित करके सामूहिक रूप से उसका भुगतान रोकते थे, तो वे प्रशासनिक आदेश की नैतिक स्वीकृति को चुनौती देते थे। यह चुनौती

केवल आर्थिक नहीं थी; वह शासन के अधिकार के प्रश्न से जुड़ती थी। सत्याग्रह ने इस चुनौती को सार्वजनिक और नैतिक रूप दिया, जबकि अधिक उग्र आंदोलनों ने ग्रामीण सत्ता-संबंधों के प्रत्यक्ष प्रतिरोध को सामने रखा।

इन आंदोलनों की सीमाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। किसान एक समान वर्ग नहीं थे। समृद्ध किसान, छोटे किसान, किरायेदार और भूमिहीन मजदूरों के हितों में अंतर था। कई आंदोलनों में जमींदार-विरोध की सीमा इसलिए बनी रही कि राष्ट्रीय गठबंधन में संपन्न ग्रामीण समूह भी शामिल थे। कुछ आंदोलनों का नेतृत्व बाहरी या शिक्षित कार्यकर्ताओं के हाथ में था, जिससे स्थानीय किसानों की स्वतंत्र राजनीतिक आवाज सीमित हो सकती थी। दमन, गिरफ्तारी, आर्थिक जबरन और हिंसा ने भी आंदोलन की निरंतरता को प्रभावित किया। इसलिए ऐतिहासिक मूल्यांकन में उपलब्धियों के साथ इन सीमाओं को शामिल करना आवश्यक है।

IX. स्वतंत्रता के बाद किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक विरासत एवं समकालीन प्रासंगिकता

भूमि सुधारों का प्रभाव सभी राज्यों में समान नहीं रहा। जहाँ कुछ राज्यों में मध्यस्थ भू-स्वामित्व कमजोर हुआ, वहीं अन्य स्थानों पर नए ग्रामीण अभिजात वर्ग उभरे। किरायेदारी कानूनों के बावजूद कई बंटाईदार अनौपचारिक व्यवस्था में बने रहे। इससे यह स्पष्ट होता है कि कानून बनाना और वास्तविक सामाजिक परिवर्तन दो अलग प्रक्रियाएँ हैं। स्वतंत्रता-पूर्व किसान आंदोलनों का इतिहास इस अंतर को समझने में सहायता करता है, क्योंकि उनमें भी कानूनी घोषणा और ग्रामीण व्यवहार के बीच अंतर दिखाई देता था।

किसान आंदोलन की आधुनिक प्रासंगिकता में संगठन और संवाद का प्रश्न विशेष महत्व रखता है। ऐतिहासिक आंदोलनों ने दिखाया कि किसी कृषि समस्या को राष्ट्रीय स्तर पर उठाने के लिए स्थानीय अनुभवों को व्यवस्थित रूप से संकलित करना, स्पष्ट मांग तैयार करना और व्यापक जनसमर्थन बनाना आवश्यक होता है। आधुनिक लोकतंत्र में यह प्रक्रिया मीडिया, चुनावी राजनीति, न्यायपालिका और डिजिटल संचार के माध्यम से बदल गई है, लेकिन सामूहिक संगठन की मूल आवश्यकता बनी हुई है।

स्वतंत्रता के बाद भारत ने भूमि संबंधों को लोकतांत्रिक और विकासात्मक नीति के माध्यम से पुनर्गठित करने का प्रयास किया। विभिन्न राज्यों में जमींदारी उन्मूलन कानून बनाए गए। किरायेदारी सुधार, भूमि-सीमा कानून, बंटाईदारों के अधिकार और भूमि अभिलेखों में सुधार जैसे कार्यक्रम भी लागू किए गए। इन नीतियों का प्रभाव राज्यों में अलग-अलग रहा। कुछ क्षेत्रों में मध्यवर्ती भू-स्वामित्व कमजोर हुआ, जबकि कई स्थानों पर बड़े और मध्यम किसानों ने नई ग्रामीण शक्ति के रूप में स्थान बनाया।

स्वतंत्रता-पूर्व किसान आंदोलनों की विरासत ने भूमि सुधार के विमर्श को प्रभावित किया। यदि चंपारण और अन्य आंदोलनों ने कृषक की खेती पर नियंत्रण का प्रश्न उठाया था, तो तेभागा ने बंटाईदार के हिस्से और तेलंगाना ने भूमि तथा ग्रामीण सत्ता की संरचना को अधिक स्पष्ट रूप से चुनौती दी। अखिल भारतीय किसान सभा ने 'जोतने वाले को भूमि' जैसी मांग को राजनीतिक शब्दावली में स्थापित किया। इसलिए स्वतंत्र भारत का भूमि सुधार कार्यक्रम केवल प्रशासनिक सुधार नहीं था; वह लंबे ग्रामीण संघर्षों के ऐतिहासिक दबाव से भी जुड़ा था।

स्वतंत्रता के बाद किसान आंदोलनों का स्वरूप बदल गया। अब संघर्ष विदेशी शासन के विरुद्ध न होकर मूल्य, सिंचाई, ऋण, बिजली, बाजार, भूमि, फसल बीमा और सरकारी नीतियों से जुड़ने लगे। फिर भी संगठन, जुलूस, सामूहिक वार्ता, धरना और राजनीतिक दबाव जैसी कई रणनीतियाँ औपनिवेशिक काल के किसान संघर्षों से ऐतिहासिक निरंतरता रखती हैं। वर्तमान किसान राजनीति को समझने के लिए इस लंबी परंपरा का अध्ययन उपयोगी है।

समकालीन संदर्भ में इतिहास की उपयोगिता वर्तमान घटनाओं को अतीत से सीधे समान मानने में नहीं, बल्कि उनकी संरचनात्मक जड़ों को समझने में है। औपनिवेशिक काल की कृषि अर्थव्यवस्था और आज की बाजार-आधारित कृषि व्यवस्था में बहुत अंतर है। फिर भी दोनों में किसान की आय, जोखिम, राज्य नीति और सामूहिक संगठन के प्रश्न मौजूद हैं। ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि ग्रामीण समुदाय जब अपनी आर्थिक समस्या को साझा राजनीतिक मुद्दे में बदलता है, तो उसका प्रभाव स्थानीय प्रशासन से आगे राष्ट्रीय नीति तक पहुँच सकता है।

किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक विरासत लोकतंत्र के लिए भी महत्वपूर्ण है। इन आंदोलनों ने साधारण ग्रामीण लोगों को सार्वजनिक जीवन में बोलने, संगठन बनाने और राज्य से जवाब मांगने की क्षमता दी। यह प्रक्रिया आधुनिक नागरिकता के विकास का हिस्सा है। इसलिए किसान आंदोलन केवल कृषि इतिहास का विषय नहीं, बल्कि भारतीय लोकतंत्र, सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक सहभागिता के इतिहास का भी महत्वपूर्ण अंग है।

X. निष्कर्ष

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में किसान आंदोलनों का योगदान बहुआयामी था। उन्होंने औपनिवेशिक कृषि व्यवस्था के आर्थिक शोषण का विरोध किया, ग्रामीण समाज में राजनीतिक चेतना विकसित की और राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया। उन्नीसवीं शताब्दी के नील, पाबना और दक्कन संघर्षों से लेकर बीसवीं शताब्दी के चंपारण, खेड़ा, अवध और बारडोली तक किसान प्रतिरोध ने विभिन्न रूप ग्रहण किए। राजस्थान के बिजोलिया और बेगूँ जैसे आंदोलनों ने रियासती शासन में किसान प्रश्न को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ा। 1936 की अखिल भारतीय किसान सभा ने इन क्षेत्रीय अनुभवों को अखिल भारतीय किसान राजनीति के मंच पर लाने का प्रयास किया। तेलंगाणा और तेलंगाना ने स्वतंत्रता के अंतिम चरण में भूमि संबंधों और ग्रामीण सत्ता को अधिक गहरे प्रश्न के रूप में सामने रखा।

किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक शक्ति इस तथ्य में थी कि उन्होंने स्थानीय शिकायत को राजनीतिक अधिकार में बदलने की प्रक्रिया विकसित की। लगान, बेगार, नील, ऋण या बंटाई का प्रश्न जब सामूहिक संगठन के माध्यम से उठाया गया, तब वह शासन और सामाजिक न्याय के प्रश्न से जुड़ गया। राष्ट्रीय आंदोलन ने किसानों को स्वराज की व्यापक अवधारणा से जोड़ा, जबकि किसानों ने राष्ट्रीय आंदोलन को ग्रामीण भारत की वास्तविक सामाजिक ऊर्जा दी। यही दोतरफा संबंध भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के जनाधार को समझने की कुंजी है।

इन आंदोलनों की सीमाएँ भी थीं। किसान समाज आर्थिक और सामाजिक रूप से विविध था; सभी वर्गों की मांगें समान नहीं थीं। अनेक आंदोलनों को प्रशासनिक दमन का सामना करना पड़ा और कुछ क्षेत्रों में हिंसा ने आंदोलन की दिशा बदल दी। कांग्रेस, जमींदारों और किसान संगठनों के बीच संबंध हमेशा एक जैसे नहीं रहे। फिर भी इन सीमाओं के बावजूद किसान आंदोलनों ने भारतीय राजनीतिक संस्कृति में सामूहिक संगठन, जनप्रतिरोध और अधिकार-बोध की परंपरा को मजबूत किया।

स्वतंत्र भारत में भूमि सुधार, जमींदारी उन्मूलन और कृषक अधिकारों के प्रश्नों में इन आंदोलनों की ऐतिहासिक विरासत दिखाई देती है। आज भी किसान राजनीति भारतीय लोकतंत्र का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता आंदोलन के किसान संघर्षों का अध्ययन केवल अतीत की घटनाओं का वर्णन नहीं, बल्कि यह समझने का माध्यम है कि भारत में ग्रामीण समाज ने अधिकार, प्रतिनिधित्व और न्याय की अवधारणाओं को किस प्रकार विकसित किया। समग्र निष्कर्ष यह है कि किसान आंदोलनों ने स्वतंत्रता आंदोलन को व्यापक जनाधार, संगठनात्मक शक्ति और ग्रामीण राजनीतिक चेतना प्रदान की तथा औपनिवेशिक सत्ता की आर्थिक एवं सामाजिक नींव को चुनौती देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

संदर्भ सूची

1. चंद्र, बिपिन. (1989). इंडियाज़ स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस. पेंगुइन.
2. चार्ल्सवर्थ, नील. (1985). पीजेंट्स एंड इंपिरियल रूल: एग्रिकल्चर एंड एग्रेरियन सोसाइटी इन द बॉम्बे प्रेसिडेंसी, 1850-1935. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
3. धनगरे, डी. एन. (1983). पीजेंट मूवमेंट्स इन इंडिया, 1920-1950. ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. देसाई, ए. आर. (संपा.). (1979). पीजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया. ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
5. दत्त, रजनी पाम. (1940). इंडिया टुडे. विक्टर गॉलैज़.
6. हार्डिमान, डेविड. (1981). पीजेंट नेशनलिस्ट्स ऑफ गुजरात: खेड़ा डिस्ट्रिक्ट, 1917-1934. ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
7. हबीब, इरफान. (1995). एसेज़ इन इंडियन हिस्ट्री: टुवर्ड्स अ मार्क्सिस्ट परसेप्शन. तुलीका.
8. क्लींग, ब्लेयर बी. (1966). द ब्लू म्यूटिनी: द इंडिगो डिस्टर्बेंस इन बंगाल, 1859-1862. यूनिवर्सिटी ऑफ पेनसिल्वेनिया प्रेस.
9. कुमार, कपिल. (1984). पीजेंट्स इन रिवोल्ट: टेनेंट्स, लैंडलॉर्ड्स, कांग्रेस एंड द राज इन अवध, 1886-1922. मनोहर.
10. नटराजन, एल. (1953). पीजेंट अपराइज़िंग्स इन इंडिया, 1850-1900. पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस.
11. पांडे, राम. (1974). एग्रेरियन मूवमेंट इन राजस्थान. यूनिवर्सिटी पब्लिशर्स.
12. पांडे, ज्ञानेंद्र. (1982). द असेंडेंसी ऑफ द कांग्रेस इन उत्तर प्रदेश, 1926-34. ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
13. पणिकर, के. एन. (1989). अगेंस्ट लॉर्ड एंड स्टेट: रिलिजन एंड पीजेंट अपराइज़िंग्स इन मालाबार, 1836-1921. ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
14. पुशपादस, जैक्स. (1999). चंपारण एंड गांधी: प्लेंटर्स, पीजेंट्स एंड गांधीअन पॉलिटिक्स. मनोहर.
15. सहजानंद सरस्वती, स्वामी. (1985). मेरा जीवन संघर्ष. ग्रंथ शिल्पी. (मूल प्रकाशन मरणोपरांत संपादित संस्करण)
16. सरकार, सुमित. (1983). मॉडर्न इंडिया, 1885-1947. मैकमिलन.
17. सेन, सुनील. (1972). एग्रेरियन स्ट्रगल इन बंगाल, 1946-47. पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस.

18. सेन, सुनील. (1982). पीजेंट मूवमेंट्स इन इंडिया: मिड-नाइनटीथ एंड ट्वेंटीएथ सेंचुरीज़. के. पी. बागची.
19. सिद्दीकी, मजीद हयात. (1978). एग्रेरियन अनरेस्ट इन नॉर्थ इंडिया: द यूनाइटेड प्रोविसेस, 1918–22. विकास.
20. स्टोक्स, एरिक. (1978). द पीजेंट एंड द राज: स्टडीज़ इन एग्रेरियन सोसाइटी एंड पीजेंट रिबेलियन इन कोलोनियल इंडिया. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
21. सुंदरैया, पी. (1972). तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल एंड इट्स लेसन्स. कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सिस्ट).
22. इंडिगो कमीशन. (1860). रिपोर्ट ऑफ द इंडिगो कमीशन. कलकत्ता: गवर्नमेंट प्रिंटिंग.
23. डेक्कन रायट्स कमीशन. (1878). रिपोर्ट ऑफ द कमीटी ऑन द रायट्स इन पूना एंड अहमदनगर. बॉम्बे: गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस.
24. फ्लाउड कमीशन. (1940). रिपोर्ट ऑफ द लैंड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल. अलीपुर: बंगाल गवर्नमेंट प्रेस.
25. गांधी, मो. क. (1927). माय एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ. नवजीवन.



International Journal of Advanced Research in Education and Technology

ISSN: 2394-2975

Impact Factor: 9.971